कटु-दर्शन

१९४३–४४

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्

—ऋग्वेद

(तुम्हारी गति साथ हो, वाणी में एकता हो, बुद्धि में सामञ्जस्य हो)

प्रकाशक

प्रयाग महिला विद्यापीठ

प्रकाशक
प्रयाग महिला विद्यापीठ
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १०००

पीड़ित बंगाल के सहायतार्थ
साधारण मूल्य २)
विशेष मूल्य ५ से १०१ तक

मुद्रकः—इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद।

निर्देशिका

ग्यारह — चित्र

नौ — कविताएं

भू—वन्दना

[अथर्व वेद पृथिवी सूक्त से]

आश्रित जिस पर सभी सरित सर सागर के जल,
लहराता है जहाँ शस्य का शोभन अञ्चल,
जिस पर है चल प्राणि—जगत जीवित औ' स्पन्दित,
वही धरा दे हमें पूर्वजों का श्रेयस नित !

सृष्टि पूर्व जो रही सिन्धु में जलमय तन से,
ऋषियों ने की प्राप्त सिद्धि के अक्षय धन से;
परमव्योम वह अमर सत्य-तेजस-आच्छादित,
जिसका उर है, वही धरा दे शक्ति, अपरिमित !

शोभित जिस पर अचल-हिमाचल-वन सुषमाकर,
अक्षय अमर अजेय खड़े हम उस वसुधा पर,
श्यामल गैरिक अखिल रूपमय, मघवा-रक्षित,
उसी भूमि पर रहें सदा हम सुख से विचरित !

जिसके उर पर विविध वनस्पतियाँ औ' तरुवर,
पाते ही रहते विकास ध्रुव और निरन्तर,
धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा,
उसका बन्दन आज कर रहा गान हमारा !

तेरे पावस औ' निदाघ तेरे मधु-पतझर,
तुझ पर रहतीं, शरद शिशिर सब ऋतुयें निर्भर,
तुझ से होते सदा दिवस औ' रजनी निर्मित,
ओ पृथिवी ! यह रहें हमारे ही सुख के हित !

जो तुझसे उत्पन्न शक्ति औ' बल का आकर,
हमें उसी के मध्य प्रतिष्ठित कर दे सत्वर,
पूत हमें कर, धरापुत्र हम तुझसे लालित,
रसदायक पर्जन्य पिता से भी हों पालित !

तेरा जो शुभ गन्ध मिला ओषधि जलकण में,
अप्सरियाँ गन्धर्व जिसे रखते निज तन में,
उस सौरभ से गात हमारा तू सुरभित कर,
पड़े किसी की द्वेष-दृष्टि ओ जननि न हम पर !

हम सबके हित महत सदन बन कर तू रहती,
महत वेग, सञ्चलन महत, कम्पन भी महती,
रहे महत निस्तन्द्र इन्द्र-छाया में ऐसी,
स्वर्णधरा तू ! पर न हमें देना विद्वेषी !

भू ही तो पाषाण, शिला औ' धूलि पटल में,
थामे सबको वही अंक अपने निश्चल में !
तेरा उर है हमें राशि सोने की अभिमत,
देते हैं हे भूमि ! तुझे हम आज नमन शत !

—अनु० महादेवी वर्मा

चित्रकर्त्री-महादेवी वर्मा



चित्रकार—शम्भुनाथ मिश्र



परिवार

चित्रकर्त्री—मीना अनद



ज़ीवन से मुक्त

चित्रकर्त्री—महादेवी वर्मा



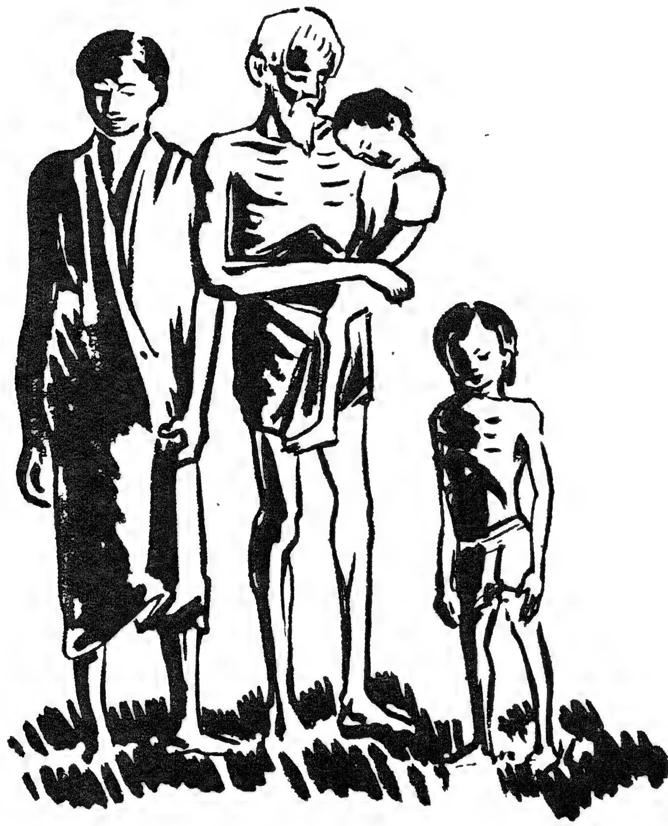
मां की चिन्ता (तैलचित्र)

चित्रकार शम्भुनाथ मिश्र



कृपायाचना

चित्रकार—शम्भूनाथ मिश्र



निर्वासित

चित्रकर्त्री—सरला सिन्हा



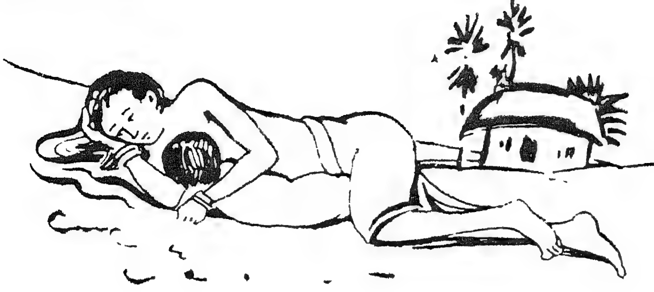
जननी

चित्रकर्त्री—बनलता बैनर्जी



विपन्न

चित्रकार शम्भूनाथ मिश्र







रेखाचित्र

बंग–जननी

मैं देकर चैतन्य, भक्ति से झूल उठी थी,
रामकृष्ण को लिये गोद में फूल उठी थी,
दिया विवेकानन्द, विश्वमानव ने माना,
विद्यासागर दिया, रूढियों ने भय माना,
मैंने बंकिम दिया कि खनक उठी हथकड़ियाँ;
मां वन्दिनि का गीत बना जागृति की घड़ियाँ!
जब सुरेन्द्र ललकार उठा, माँ के आँगन में,
जब अरविन्द पुकार उठा विद्रोही मन में,
उठ आयी, बेमूछोंवाली, तरुण कहानी,
महाप्रलय की अग्निसाध, जिसने पहिचानी,
देशभक्ति से उस दिन पामर धन डोला था,
देशभक्ति से कायर बिद्वज्जन डोला था!
छोटे छोटे लड़के लिये हथेली पर सिर अपने—
उनसे, उस दिन, विश्वबली शासन डोला था!
ले मुट्ठी में शपथ, हाथ में गीता लेकर,
बना स्वर्ग सीढ़ी कि झूल जाते शूली पर!
इसी बीच, मैंने, भारत-मस्तक नत देखा,
दे न सका, जग में, अपने भावो का लेखा।
उजड़ा सूफों का जगमग जग प्रतिभा खाली!
कहलाती थी कला रुढ़ियों की रखवाली!
इस घर, पश्चिम से प्रतिभा उधार आती थी,
कविता, कला, कहानी बेशुमार आती थी,
यह कि जहाज़ों में भरकर, उभार आती थी!
उस जूठन से, अपने घर बहार आती थी।
तब मैं ले आई रवीन्द्र पश्चिम गति बाँधी,
वाणी भरे रवीन्द्र; प्राण जब भर दे गाँधी!

यह प्रतिभा का दिव्य-दान, ऊँचा उठ बोला,
और मातृभू की संस्कृति-कृति ने मुँह खोला।
हम बोले उत्तर दक्षिण पूरब पश्चिम से,
और जगत का खंड-खंड तब हमसे बोला।
मैं दरिद्र थी, किन्तु सूझ दारिद्रय हटाये,
क्षीण रही, पर सूली पर सपूत लटकाये,
मैं शिथिला—मैंने चिन्तन रत सन्त दिये थे,
देशबन्धु से परम तपी सामन्त दिये थे।
उसी बंग को, आज समय क्यों भूखा मारे?
वही बंग क्या आज दरबदर हाथ पसारे?
उसी बंग के बेटे बेटी बेंचे जावें?
महतर की गाड़ियों मृतक शव खेंचे जावें?
देश, बंग की भूख, भीख की भाषा मत गिन!
पीड़ित भू को, देख पतन परिभाषा मत गिन।
इसके नौनिहाल, लाशों में देख रहा तू—,
फिर 'युद्धोत्तर जगत' बनेगा—लेख रहा तू?
लगे कला में आग,—अरे गाता फिरता है?
आँसू भरे दिलों को—भरमाता फिरता है?
कला आज है, स्वयं बंग के मुख में रोटी,
कला आज है स्वयं बंग के चरणों रोटी,
कला आज है सूली के घर चावल भेजें,
कला आज हैं, शान्ति निकेतन में बल भेजें!
और कहें, कवि की वाणी में—रे अग जग के त्राता,
"जनगण ऐक्य बिधायक जय हे भारत भाग्य विधाता।"

—एक भारतीय आत्मा

संसार

क्या यही संसार मेरा ?
अयि प्रकृति, कह, क्या यही चिरनाट्य लीलागार तेरा ?
मृत्यु के पहले जहाँ जन ही जनों को मारते हैं;
आप अपनी सी पराई पीर कौन विचारते हैं ?
स्वर्ण-मृग-सा रक्षकों का रूप भक्षक धारते हैं;
दुरितधी पर-धन-धरा पर हाथ-पैर पसारते हैं।
शान्ति पर डाले खड़ा है शस्त्र-शासन सघन घेरा !
क्या यही संसार मेरा ?

शिशु जहाँ शुष्कस्तनी माँ को अधीर पुकारते हैं;
एक मुट्ठी अन्न पर उनको बुभुक्षित वारते हैं।
आँसुओं के रूप में जीवन जहाँ रस गारते हैं;
एक के पट दूसरों के अन्तरंग उघारते हैं।
रक्तरंजित ही यहाँ तो साँझ हो चाहे सबेरा !
क्या यही संसार मेरा ?

मुक्तिदम्भी बन्धनों के जाल फैलाते जहाँ हैं;
दास्य-दाता बन्धुता के गीत-गुण-गाते जहाँ हैं;
प्रकृत वर्वर सभ्यता का स्वाँग भर लाते जहाँ हैं;
शाह बनकर चोर सब कुछ मूस ले जाते जहाँ हैं।
देखिए जिस ओर, है लोलुप लुटेरों का बसेरा।
क्या यही संसार मेरा ?

देश - फल की कामना से पान कर हठ-मान-हाला,
पात्र जिसके हैं चढ़ाते काल को कंकाल-माला !
मार्ग की उल्का जहाँ वैधव्य की विकराल ज्वाला,
भंग करती सन्धियों के अंग जिसकी रंग शाला।
राग की किस मूर्च्छना ने हाय ! मुझ पर हाथ फेरा !
क्या यही संसार मेरा ?

अवश यौवन की अवस्थाएँ निरन्तर ढल रही हैं ;
आधि-व्याधि-उपाधियाँ बल-वृद्धि पाकर पल रही हैं ;
सुहृत्स्वजनों की चिताएँ सतत सम्मुख जल रही हैं ;
हम अबुद्धों को कहाँ निज हीनताएँ खल रही हैं ?
मरण से भी कठिन जिसमें जटिल जीवन का निबेरा ;
क्या यही संसार मेरा ?

आह-दाह-कराह-क्रन्दन-कलह-कोलाहल मचा है ;
द्वेष के ही राग से एकान्त अन्तस्तल रचा है।
बाष्प बनकर उठ रहा, जो विषमता का मल पचा है :
साँस लेने योग्य क्या जल-थल-नभोमण्डल बचा है ?
जातरूप-सुवर्ण में कलि-काल पैठा डाल डेरा।
क्या यही संसार मेरा ?

हे प्रभो, कातर सरीखा मैं इसे क्या छोड़ जाऊँ ?
क्षणिक आभा से, वणिक-सा गणित कर मुख मोड़ जाऊँ ?
आर्द्र अपनों के सदय सम्बन्ध क्यों कर तोड़ जाऊँ ?
दे अरे, कुछ तो मुझे, जिसको यहाँ मैं जोड़ जाऊँ।
नाथ, तुझको भी छिपाने जा रहा है यह अँधेरा !
क्या यही संसार मेरा ?

—मैथिलीशरण गुप्त

पाँचक

दीठ बँधी, अँधेरा उजाला हुआ ,
सेंधों का ढेला शकरपाला हुआ ।

राह अपनी लगे, नेता काम आया ,
हाथ मुहर है मगर छदाम आया ।

आदमी हमारा तभी हारा है ,
दूसरे के हाथ जब उतारा है ।

राह का लगान गैर से लिया ,
यानी रास्ता हमारा बन्द किया ।

माल हाट में है मगर भाव नहीं ,
जैसे लड़ने को खड़े दाव नहीं ।

—'निराला''

मानव-जीवन की रेख

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख—
साहस के ये लेख—लिखे है किसने ? जिनको देख
रवि कीं किरणें अपने उज्ज्वल रँग में भाव-विभोर
आ जाती हैं नभ से इस गीली मिट्टी की ओर।
रँगती हैं वे अपने रँग से यह जीवन की रेख
और चमक उठते हैं मिट्टी के मस्तक के लेख।

पर मानव के प्राणों पर यह कैसी मृण्मय कोर !
जिसमें केवल ज्वाला है, ज्वाला है चारों ओर।
एक यंत्रणा पागल सी रखती है कितने रूप !
यहाँ-वहाँ चलती-फिरती सी है वर्षा की धूप।
कभी वेदना की विद्युत, आँसू की कभी हिलोर
ऐसी है यह मानव के प्राणों पर मृण्मय कोर।

मानव के भीतर दानव की यह कैसी तसवीर ?
बिजली सी चुभ कर बैठी है जलद-हृदय को चीर,
आत्मा के ऊपर बैठा है भूखा एक शरीर,
हृदय प्रेम से नहीं भूख से होता आज अधीर,
विश्वंभरा प्रकृति, तेरी आँखों में कितना नीर !
जिससे धुलकर हो पवित्र मानव की यह तसवीर।

जाग रहे हैं प्राण किन्तु यह देह बनी कंकाल,
आशा, आशा, आशा, केवल आशा ही का जाल !
माँ की आँखों के वसंत में घिरता वर्षाकाल।
जहाँ मृत्यु-घन में खो जाते इंद्रधनुष से लाल !
यह है अपना देश, यही है अपना प्रिय बंगाल
जाग रहे हैं जहाँ प्राण, पर देह बनी कंकाल !

ललित कला की भूमि, भूख की भूमि बने इस बार ?
कवि रवींद्र की दिव्य साधना का हो यह आभार ?

मानवता का मानव के हाथों से यह सत्कार ?
क्रय-विक्रय के काँटों पर हो रूप और शृङ्गार ?
किन्तु भस्म में भी जागृत हैं कहीं-कहीं अंगार
ललितकला की भूमि खोज लेगी अपना उद्धार ।

जीवन में हो नवोन्मेष, उत्साह उठे फिर जाग
एक फूँक से फिर चिनगारी हो सकती है आग,
हृदय-स्पंदन स्वस्थ, साँस हो सजग, प्राण द्युतिमान
फूल एक हो किन्तु उसी में छाया हो उद्यान ।
त्याग छिपाये हों उर की प्राची का मृदु अनुराग,
जीवन के लघु क्षण में भी उत्साह उठे फिर जाग ।

यह है उज्ज्वल पृष्ठ जहाँ जीवन का नव निर्माण—
छोटा सा निर्माण, जहाँ रेखा से हैं लघु प्राण ।
इतने लघु प्राणों में भी साहस का पारावार—
जाग रहा है, जिसमें लहरें ही बनकर पतवार
ले जाती है जीवन की सीमा के भी उस पार,
जीवन का यह पृष्ठ न लौटे कभी दूसरी बार !

मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर में सुख के लेख
बार बार कहते हैं—हम तो पृथ्वी का तम देख,
बढ़ते ही जाते हैं अपने प्रिय प्रकाश की ओर
चाहे आँधी या वर्षा की बूँदें दें झकझोर ।
मानव के जीवन में ऐसी ही बन जाये रेख,
जैसे मिट्टी के मस्तक पर हरितांकुर के लेख ।

—रामकुमार वर्मा

बंगाल का काल

पड़ गया बंगाले में काल,
भरी कंगालों से धरती,
भरी कंकालों से धरती,
दीनता ले असंख्य अवतार,
पेट खला,
हाथ पसार
पाँच उँगलियाँ बाँध,
मुँह दिखला,
भीतर घुसी हुई आँखों से
आँसू ढार,
मानव होने का सारा सम्मान बिसार,
घूमती गाँव-गाँव,
घूमती नगर-नगर,
बाज़ारें-हाटों में, दर-दर, द्वार-द्वार,
मानव होने का सारा सम्मान बिसार !
अरे यह भूख हुई साकार,
दीर्घा कार !
तृप्त कर सकता इसको कौन ?
पेट भर सकता इसका कौन ?
भूख ही होती, लो, भोजन !
मृत्यु अपना मुख शत योजन
खोलती
खाती और चढ़ाती,
मोद मनाती
मग्न हो मृत्यु नृत्य करती !
नग्न हो मृत्यु नृत्य करती !
देती परम तुष्टि की ताल,
पड़ गया बंगाले में काल,
भरी कंगालों से धरती,
भरी कंकालों से धरती !
क्या कहा ?
कहाँ पड़ गया काल,
कहाँ कंगाल,

कहाँ कंकाल,
क्या कहा, काल-त्रस्त बंगाल !
वही बंगाल—
जिस पर छाए सजल घनों की
छाया में लह लह लहराते
खेत धान के दूर दूर तक
जहाँ कहीं भी गति नयनों की,
जिस पर फैले. नदी सरोवर,
नद. नाले वर,
निर्मल निर्झर,
सिंचित करते वसुन्धरा का आँगन उर्वर;
जिसमें उगते बढ़ते तरुवर
लदे दलों से
फँदे फलों से
सजे कली-कुसुमों से सुन्दर।
वही बंगाल—
जिसे देख पुलकित नेत्रों से
भरे कंठ से,
गद्‌गद्‌ स्वर से
कवि ने गाया राष्ट्र गान वह—
बन्दे मातरम्
सुजलां सुफलां मलयजशीतलां
शस्यश्यामलां मातरम्.... ।
वन्दे मातरम्,
जो नगपति के उच्च शिखर से
रासकुमारी के पदनख तक
गिरि-गह्वर में,
वन-प्रांतर में,
मरुस्थलों में मैदानों में
खेतों में औ' खलिहानों में
गाँव, गाँव में,
नगर, नगर में,
डगर, डगर में,
बाहर-घर में
स्वतंत्रता का महा मंत्र बन
कंठ-कंठ से हुआ निनादित,

कंठ-कंठ से हुआ प्रतिध्वनित !

...   .

वही बंगाल—
जिसकी एक साँस ने भर दी
मरे देश में जान,
आत्म-सम्मान,
आज़ादी की आन ;
आज,
काल की गति भी कैसी, हाय,
स्वयं असहाय,
स्वयं निरुपाय,
स्वयं निष्प्राण,
मृत्यु के मुख का होकर ग्रास
गिन रहा है जीवन की साँस ।
हे कवि, तेरे अमर गान की
सुजला सुफला,
मलय-गंधिता,
शस्य-श्यामला,
फुल्ल-कुसुमिता,
द्रुम-सुसज्जिता,
चिर-सुहासिनी,
मधुर-भाषिणी,
धरणी भरणी,
जगत-वंदिता
वंगभूमि अब नहीं रही वह !
वंगभूमि अब
शस्यहीन है,
दीन क्षीण है,
चिर-मलीन है,
भरणी आज हो गई हरणी ;
जल दे, फल दे और अन्न दे
जो करती थी जीवन दान,
मरघट-सा अब रूप बनाकर
अजगर-सा अब मुँह फैलाकर
खा लेती अपनी संतान !
बच्चे और बच्चियाँ खाती,

लड़के और लड़कियाँ खाती
खाती युवक, युवतियाँ खाती।
खाती बूढ़े और जवान
निर्ममता से एक समान।
वंगभूमि बन गई राक्षसी—
कहते ही लो कटी ज़बान!
राम रमा!
क्षमा-क्षमा!
माता को राक्षसी कह गया!
पाप शांत हो,
दूर भ्रांति हो,
ठीक अन्नपूर्णा के आँचल
में है सर्वस,
अन्न तथा रस,
पड़ा न सूखा,
बाढ़ न आई,
और नहीं आया टिड्डीदल,
किन्तु वंग है भूखा-भूखा-भूखा।
... ...
बरस बरस के पोसे पाले
भूख-भूख कर,
सूख-सूख कर,
दारुण दुख सह
लेकिन चुप रह,
जाते हैं मर
जाते हैं झर जैसे पत्ते किसी वृक्ष के
पीले, ढीले
झंझा के चलने पर!
कृमि-कीटों की मृत्यु किस तरह
होती है इससे बदतर!

—बच्चन

(बंगाल के काल पर लिखित लंबी कविता का एक अंश।

प्रश्न

नाचो ! नाचो ! भैरव !

निखिल नियम के रोम-रोम में जगे व्योममय ताण्डव !

गर्जित होओ सुदृढ़ वज्रसम मेरे नग्न हृदय में,
हँसो ठठाकर अट्टहास से तुङ्ग तुषारालय में।

हिमखंडों के भीम पतन से, वज्रमयी क्रीड़ा से
तुम होते विक्षोभित जीवन - मृत्युमयी पीड़ा से;

पर यह देखो, निखिल विश्व के मानव आर्त रुदन से
किस निष्ठुर से भिक्षा चाह रहे हैं शीर्ण वदन से !

वज्रकोप से, रुद्रशाप से जन्मावधि हैं पीड़ित,
कठिन नियम के पेषण से हैं निशिदिन त्रस्त, विताड़ित ;

नहीं शक्ति जीने की उनमें नहीं चाह मरने की,
ज्ञानहीन पशुसम चिन्ता है क्षुधा शान्त करने की ;

उनके दुर्बल, भीरु हृदय को कैसे सबल बनाऊँ ?
मस्तक ऊँचा करने का क्या जीवन-मन्त्र सुनाऊँ ?

—इलाचन्द्र जोशी

रासमणि

कल सन्ध्या के समय, दूर के विजन ग्राम से आकर
ठहरी थी यह यहाँ रासमणि तरुतल छाया पाकर।
नहीं जा सकी बस्ती तक वह, कठिन हुए दो डग थे,
डगमग डगमग मग था उसका, डगमग डगमग पग थे।
जाय कहीं वह, दुर्लभ उसको मुट्ठी भर भी चावल,
जैसा उसके लिए गाँव है, वैसा ही यह तरुतल।
दी सहायता उसे श्रान्ति ने, मृदुल हो उठी धरती ;
भारी पलकों पर आ उतरी निद्रा जगती भर की।
भूल गई सब, कहाँ कौन वह, किसकी है वह जाई,
उस उजाड़ से इस उजाड़ तक चलकर कैसे आई।
भूल गई यह, कहीं पलायित कब का जीवनधन है,
नहीं विराम, उसे जीवन में एक अभीष्ट भ्रमण है।
भला भूलना ही उस शिशु का, जिसे एक ही रट थी,
अन्त समय तक भी धनिकोचित दुग्धपान की हठ थी।
निद्रित थी, अथवा मूर्च्छित थी, नहीं किसी ने देखा,
खिसक गई नभ में नीचे को अर्द्धचन्द्र की लेखा।

हहर उठा वह वृक्ष अचानक, मुख उलूक ने खोला,
पवन-प्रेत उस अन्धकार में पत्र पत्र पर डोला।
जगी रासमणि, भग्नदेह में जगे चेतनाचेतन,
जीवन भार उतरता हो ज्यों, बोध हुआ हलकापन।
सहसा किसी स्वजन परिजन की याद न उसको आई,
दीखी दो पूरे बैलों की प्रबल प्रचंड लड़ाई।
ध्यान गया तब खेत-ओर, जो भरा हुआ था जल से,
दीख पड़ा फिर वह घर, जो था रिक्त धान चावल से।
चावल नहीं, ध्यान में आया, काँपी वह विकला सी,

कोई चावल-प्रेत कहीं है मरघट तरु का बासी।
वह अबोध है, नहीं जानती बड़ी ज्ञान की बातें,
चर्चिल की, हिटलर की उसको ज्ञात नहीं हैं घातें।
बड़े प्रेत ही, उसके मत से, दुख दारिद्र्य बढ़ाते,
चुटकी बजा यहाँ का चावल वहाँ उड़ा ले जाते।
सहसा अभय-ओज ज्यों फैला उस सूखे आनन पर,
लड़ सकती है प्रेतों से वह स्वयं प्रेत ही बन कर!

बीत गई वह रात, रासमणि पड़ी हुई थी निश्चल;
अब वह ईंधन की भूखी है, नहीं छुएगी चावल।
जो चिताग्नि उगलेगा उसका विकृत प्रेतमुख चट-चट,
सभ्य आज का मानव हँसकर उसे उड़ा देगा झट।

—सियारामशरण गुप्त,

उद्‌बोधन

दीन भिखारिन बनी विलखती सुन्दर बन की रानी,
शस्यश्यामला वंग-भूमि की कितनी करुण कहानी !

मूक लाज उसकी बिकती है दो दानों के मोल
भूख ! भूख ! बस भूख ! छोड़ कर और न सकती बोल;
जन-सेवा-व्रत-रत पुत्रों की वह धरती कल्याणी,
शस्यश्यामला बंग-भूमि की कितनी करुण कहानी !

चेतनता चैतन्यदेव की, बंकिम का बाँकापन,
रामकृष्ण की सिद्धि-साधिका शरद-शक्ति का आलेखन,
कवि-रवि की मधुमञ्जु मञ्जरी, अभिनव युग की वाणी,
शस्यश्यामला बंगभूमि की कितनी करुण कहानी !

मानवता का मान खो गया भाई-बहिनों की ममता,
माँ ने खा डाला बच्चो को कितनी विकल विवशता,
असमय मरण नाचता सिर पर, करुणा की कुर्बानी,
शस्यश्यामला वंग-भूमि की कितनी करुण कहानी !

बना प्रेत जीते जी मानव कंकालों का हाहाकार,
कला संस्कृति की छाया में भीषण नर-संहार,
क्रान्ति ! क्रान्ति ! की आग फूंक दे कवि-प्रतिभा मर्दानी,
शस्यश्यामला वंग-भूमि की कितनी करुण कहानी !

सुफल वहीं जो आज सुना दे ऐसा नया तराना,
जीने की अधिकार-भावना से जग पड़े जमाना,
शोषक-दल, नर-कृत अकाल की रहे न शेष निशानी,
शस्यश्यालला वंग-भूमि की कितनी करुण कहानी !

—गंगा प्रसाद पाण्डेय

वंग-वन्दना

वंग-भू शत वन्दना ले !
भव्य भारत की अमर कविता हमारी वन्दना ले !

अंक में झेला कठिन अभिशाप का अंगार पहला,
ज्वाल के अभिषेक से तूने किया शृंगार पहला,
तिमिर सागर हरहराता,
संतरण कर ध्वंस आता,
तू मनाती है हलाहल घूँट में त्योहार पहला,
नीलकण्ठिनि ! सिहरता जग स्नेहकोमल-कल्पना ले।

वेणुवन में भटकता है एक हाहाकार का स्वर,
आज छाले से जले जो भाव से थे मुखर सस्वर,
छन्द से लघु ग्राम तेरे,
खेत लय-विश्राम तेरे,
बह चला इन पर अचानक नाश का निस्तब्ध सागर !
जो अचल बेला बने तू आज वह गति साधना ले !

शक्ति की निधि अश्रु के क्या श्वास तेरे तोलते हैं ?
आह तेरे स्वप्न क्या कंकाल बन बन डोलते हैं ?
अस्थियों की ढेरियाँ हैं,
जम्बुकों की फेरियाँ हैं,
'मरण केवल मरण' क्या संकल्प तेरे बोलते हैं ?
भेंट में तू आज अपनी शक्तियों की चेतना ले !

किरण-चर्चित, सुमन-चित्रित, खचित स्वर्णिम-बालियों से,
चिरहरित पट है मलिन शत शत चिता-धूमालियों से,
गृद्ध के पर छत्र छाते,
अब उलूक विरुद सुनाते,
अर्घ्य आज कपाल देते शून्य कोटर-प्यालियों से !
मृत्यु क्रन्दन-गीत गाती हिचकियों की मूर्च्छना ले !

भृकुटियों की कुटिल लिपि में सरल सृजन विधान भी दे,
जननि अमर दधीचियों की अब कुलिश का दान भी दे,
निशि सघन बरसातवाली,
गगन की हर साँस काली,
शून्य धूमाकार में अब अर्चियों का प्राण भी दे!
आज रुद्राणी! न सो निष्फल पराजय-वेदना ले!

तुंग मन्दिर के कलश को धो रहा 'रवि' अंशुमाली,
लीपती आँगन विभा से वह 'शरद' विधु की उजाली,
दीप-लौ का लास 'बङ्किम'
पूत-धूम 'विवेक' अनुपम',
रज हुई निर्माल्य छू चैतन्य की कम्पन निराली,
अमृतपुत्र पुकारते तेरे अजर आराधना ले!

बोल दे यदि आज, तेरी जय प्रलय का ज्वार बोले,
डोल जा यदि आज, तो यह दम्भ का संसार डोले,
उच्छ्वसित हो प्राण तेरा,
इस व्यथा का हो सवेरा,
एक इंगित पर तिमिर का सूत्रधार रहस्य खोले!
नाप शत अन्तक सके यदि आज नूतन सर्जना ले!

भाल के इस रक्त चन्दन में ज्वलित दिनमान जागे,
मन्द्र सागर तूर्य पर तेरा अमर निर्माण जागे,
क्षितिज तमसाकार टूटे,
प्रखर जीवन-धार फूटे,
जाह्नवी की उर्मियाँ हों तार भैरव-राग जागे!
ओ विधात्री! जागरण के गीत की शत अर्चना ले!

ज्ञानगुरु इस देश की कविता हमारी बन्दना ले।
बङ्ग-भू शत वन्दना ले!
स्वर्ण-भू शत बन्दना ले!

—महादेवी

अपनी बात

आपत्तियों का अभ्यस्त हो जाना उनसे छुटकारा पाने का मार्ग रुद्ध कर लेना है, यह सत्य हमारे जातीय जीवन में बारबार परीक्षित हो चुका है।

जिस प्रकार हम दासता, अपमान. अभाव, रूढ़ि आदि के अभ्यस्त हो चुके हैं, उसी प्रकार दुर्भिक्ष के भी अभ्यस्त हो सकते हैं। साधारणतः कोई आपत्ति, कोई दुर्दशा या कोई अधोगति हमारे मर्म को इस प्रकार नहीं मथ डालती कि हम उससे मुक्ति पाने के लिए जीवन की बाज़ी लगा सकें। परिणामतः हम सभी प्रकार की परिस्थितियों से समझौता करके अपने आपको बचा लेने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

सामान्य रूप से भारत के कई प्रान्तों में फैले हुए तथा विशेष रूप से बंगाल की शस्यश्यामल धरती को एक विराट श्मशान बना देने वाले अकाल की चर्चा का स्वर यदि मन्द पड़ने लगा है तो उसका कारण अकाल निर्मायक परिस्थितियों का अभाव न होकर उनकी उपस्थिति का अभ्यस्त हमारा स्वभाव ही कहा जायगा।

जनसंख्या तथा प्राकृतिक वैभव में यूरोप के किसी अच्छे देश से अधिक सम्पन्न इस प्रान्त को अकारण जो अग्निपथ पार करना पड़ा है उसका कारण सोचने पर मन विषाद से भर आता है। प्रत्येक सहृदय के मन में बार-बार एक ही प्रश्न जाग उठता है—इस अभूतपूर्व आपत्ति का कारण क्या है? इस नर-संहार का उत्तरदायी किसे माना जावे?

वंगभूमि की छः करोड़ जन-संख्या में केवल पचास लाख ही नगरवासी हैं। शेष का जीवन आदि से अन्त तक ग्रामों की हरीभरी धरती पर ही बीतता है। इस विराट हरीतिमा में जड़े हुए नव्वे हज़ार ग्रामों पर ही अकाल का सबसे क्रूर प्रहार हुआ है इसी कारण वंगभूमि का मेरुदण्ड ही टूट गया जान पड़ता है।

आज ढाई करोड़ दरिद्र किसान और खेतों में काम करनेवाले श्रमिकों का, वर्ग है भिक्षुक, आजीविका है भिक्षाटन, विनोद है व्याधि

और लक्ष्य है मृत्यु। अपने उदर की पूर्त्ति करने में भी असमर्थ यह धरती के पुत्र जलने के लिए दौड़ आने वाले पतिङ्गों के समान नगरों की ओर दौड़ पड़े। यहीं से मानो उनकी श्मशान यात्रा आरम्भ हो जाती है। जब इन ग्रामीणों के हृदय में धरती से मिली स्वर्ण राशि का उल्लास था, आँखों में आत्म-विश्वास के चित्र थे, पैरों में कर्तव्य की दृढ़ता थी और हाथों में वरदान का बल था तब भी नगरों ने उन्हें कभी हाथ भर छाया नहीं दी। फिर आज तो अट्टालिकाओं ने इन्हें, डग-मगाते पैरों, काँपते हाथों, सभीत आँखों और टूटे हृदयों के साथ उन भिक्षुकों की पंक्ति में बैठते देखा जो अपनी विकलाङ्गता का प्रदर्शन करके ही जीविका प्राप्त करते हुए फुटपाथ के रंगमंच पर ही जन्ममृत्यु का अभिनय करते हैं।

किसान का भिखारी होना कितना कठिन है यह वही जान सकता है जो कभी उसके द्वार पर पहुँच कर उसके अयाचित आतिथ्य से परिचित हो सका है। अपने श्रम का उचित मूल्य न पाने वाले मजदूर का भीख के लिए हाथ फैलाना कितना दयनीय है, यह वही बता सकता है जिसने उसे किसी की दुखगाथा से प्रभावित होकर दिन भर की कमाई देकर भूखा सोते देखा है। यही उदारहृदय नगर की विशाल अट्टालिकाओं के चरणों में बैठकर भूखे मरने तथा उस दुख से बचने के लिए भीख भी न पाने पर अपने बच्चों को बेचने लगे, युवतियों और बालिकाओं के जीवन को व्यवसाय की सामग्री बनाने लगे।

नगरों में भिक्षुक समुद्र से जैसे क्षुधार्तों का नद मिल गया क्योंकि नित्य कुआ खोदने और नित्य पानी पीने की कहावत चरितार्थ करने वाले दरिद्र कुली मजदूर ही नहीं निम्न मध्य वर्ग के लिए भी अन्न दुर्लभ हो चुका था।

और तब जो इस देश के इतिहास में कभी घटित नहीं हुआ, नरक की कल्पना करने वाले के मस्तिष्क में भी नहीं समाया, जिसकी ज्वाला ने सभ्यता को मानो मुखाग्नि दे डाली तथा जिसकी अविश्वसनीय भीषणता को स्वप्न मानने के लिए भी आगामी पीढ़ी प्रस्तुत न होगी, उसी दुर्भिक्ष का ताण्डव आरम्भ हुआ। मृत्यु की जड़ता से उसकी तुलना नहीं हो सकती। युद्ध की भीषणता को उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। मृत्यु में मनुष्य, सृजन के नियम की रक्षा के लिए मनुष्यत्व के गौरव के साथ मरण को स्वीकार करता है। युद्ध में सैनिक मानवता द्वारा स्थापित आदर्शों को जीवित रखने के लिए जीने के अधिकार के साथ जीवन देता है।

यह गौरव, यह अधिकार दुर्भिक्ष के लिए अदेय है। भूख की ज्वाला में तिल-तिल जला कर यह मनुष्य को पशु से कीटाणुकीट की

हीनता तक पहुँचाते हुए इस प्रकार समाप्त करता है कि अन्त में कोई उसके निर्माण में मानव का चिन्ह तक नहीं खोज सकता।

मनुष्य—और उस मनुष्य ने जो पृथ्वी की समस्त उर्वरता को अपने श्रम से खरीद सकता था, उच्छिष्ठ खाया, घूर के ढेर खोद कर उसमें मिली मलिनता से उदर भरना चाहा, परन्तु तब भी जीवन की समस्या हल न हो सकी। उसकी मृत्यु भी जीवन के समान ही हीनता की भेंट लेकर आई। इन अभिशप्त प्राणियों के शव धूप-वर्षा में पड़े हुए अन्त्येष्टि के लिए सियारों से कृपा की भीख माँगते रहे, गृद्धों को भोज का निमन्त्रण देते रहे।

और सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इनके सुख-सुविधा के लिए उत्तरदायी वर्ग इतना भी नहीं बता सका कि उसकी भूलों का प्रायश्चित करने वालों की संख्या कितनी है। मरने वालों का जीवन मानो रेशम के कीड़ों का जीवन है, जिन्हें अपने जीवन का उत्कृष्ट फल देने के लिए ही भोजन मिलता है और उस रेशम को सुरक्षित पाने के लिए पानेवाले उन्हें गर्म भाप की उष्णता दे देकर मार डालते हैं। अपने लाभ का परिणाम सब बता सकते हैं किन्तु, उस लाभ की नींव बनने वाली दूसरों की हानि का लेखा-जोखा रखना तो लाभ का मार्ग ही रोक देना है!

किसी अन्य देश में ऐसी घटना घटित होती तो क्या होता इसकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु हमारा देश यदि इसे अदृष्ट का लेखा मानकर स्वीकार करले तो स्वाभाविक ही कहा जायगा। फिर भी प्रत्येक विचारक जानता है कि यह आकस्मिक वज्रपात नहीं है जिसका कारण दुर्दैव या संयोग को मानकर जिज्ञासा विराम पा सके। यह तो मनुष्य के स्वार्थ की शिला पर उसके प्रयत्न और बुद्धि द्वारा निर्मित नरक है अतः इसका कारण ढूँढ़ने दूर न जाना होगा। आपत्ति की सूचना के पहले हमारे विदेशीय शासक ही नहीं स्वदेशीय मन्त्रिमंडल भी आश्वस्त था।

सुना कि १९४१—४२ की फसल अच्छी हुई। ज्ञात हुआ कि केवल १५ प्रतिशत कमी की सम्भावना हो सकती है। बताया गया कि बाहर से २ करोड़ २० लाख मन के लगभग अन्न आया। सब सुन लेने के उपरान्त श्रोता विस्मित भाव से पूछ बैठेगा 'तब इतना भीषण दुर्भिक्ष क्यों?'

युद्ध के पूर्ण वेग के बीच में भी अन्य देशों ने ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न होने दी तब हमारे देश पर ही यह अभिशाप क्यों। विशेषतः बंग देश तो भारतीय मोरचे का शिरोभाग है। उसकी जनता को दुर्बल कर देने का तात्पर्य सम्पूर्ण संगठन को शिथिल कर देना है।

परन्तु यह सत्य है कि हमारे शासकों ने युद्ध के लिए आवश्यक मनुष्यों के अतिरिक्त शेष को आवश्यकता की सीमा में रखकर देखा ही नहीं।

जीवन के लिए जीवित जनता, मृत्यु के लिए जीवित सैनिकों के लिए रक्तवाही शिराजाल के समान है, इसी से प्रत्येक देश उसके सुख-सुविधा के लिए विशेष चिन्ताशील रहता है।

हमारा मन्त्रिमंडल भी जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व न कर सका अन्यथा स्थिति के इस सीमा तक पहुँचने में अवश्य ही बाधा पड़ती।

दोनों ही कारणों ने मिलकर एक तीसरे लाभव्यवसायी दल को पनपने की विशेष सुविधा दे डाली। वह कभी एक पक्ष और कभी दूसरे का समर्थक होकर अन्न के प्रत्येक कण को सोना बना लेने का उपाय करने लगा। इस प्रकार 'ग्रह गृहीत पुनि वातवश तेहि पुनि बीछी मार' की कथा हो गयी।

आज बवंडर की तरह बह जाने वाले दुर्भिक्ष का प्रथम वेग कुछ शिथिल पड़ रहा है, किन्तु असमय आश्वस्त हो बैठने पर फिर पिछली भूलों को दोहराना होगा जहाँ तक अन्न के सुलभ होने की समस्या है वह तो आज भी ऐसे समाधान तक नहीं पहुँची जो हमें निश्चिन्त कर सके। अब तक न अन्न का भाव गिरा और न मूल्यनियन्त्रण की समस्या का कोई हल निकला। आज भी न अन्न के चोर हमारे दण्ड की सीमा में हैं और न यातायात पर हमारा कोई वश है।

दुर्भिक्ष की रात में ही नहीं उसके सवेरे भी कंकालों से बसी हुई धरती देखकर अधिकारियों ने कोई नई व्यवस्था नहीं खोज निकाली। अनेक तटस्थ विचारक दुर्भिक्ष के प्रत्यावर्तन की सम्भावना की ओर संकेत कर रहे हैं, परन्तु वे संकेत अरण्य-रोदन मात्र बन जाते हैं।

इस समय तो दुर्भिक्ष पीड़ितों में से अधिकांश मजदूरी के काम में लग गये हैं, किन्तु ज्येष्ठ मास में जब वे अपनी पूर्ववत निर्बन्ध स्थिति में पहुँच जायँगे तब समस्या का उग्रतर हो उठना अनिवार्य है।

दूसरी समस्या उन दरिद्र किसानों की है जिनके घर, खेत छिन गये हैं। उनका सामाजिक ढाँचा ही खण्ड-खण्ड होकर बिखर चुका है। अतः किसी अंशतः सहायता से उनके जीवन का पुनर्निर्माण कठिन होगा। जिन सम्पन्न महाजन और किसानों के हृदय उनकी विपन्नावस्था से लाभ उठाने में नहीं काँपे वे अप्रत्याशित भाव से मिली हुई धरती को सहज ही लौटाने की न्यायबुद्धि कहाँ से पा सकेंगे! जब तक उस दिशा में जनमत का संगठन न किया जावे बंगाल के दरिद्र किसान के पास भिखारियों की संख्या बढ़ाने के

अतिरिक्त और कोई उपाय शेष नहीं और जब तक यह किसान निःस्व रहेगा तब तक बंगाल का पुनर्निर्माण कल्पनामात्र है।

तीसरी समस्या उन बच्चों से सम्बन्ध रखती है जो अपने माता पिता तथा परिवार को खोकर सत्य अर्थ में केवल देश की सम्पत्ति बन चुके हैं। यही बंगाल के भावी नागरिक होंगे; अतः यदि आज इनके निर्माण के सम्बन्ध में बंगाल सतर्क न होगा तो फिर वह अपने भविष्य के निर्माण में भी असफल रहेगा।

इन अनाथों ने जीवन की जिस विभीषिका को प्रत्यक्ष देखा है, अभाव की जिस व्यथा का प्रतिक्षण अनुभव किया है वह इन्हें मानव के प्रति अधिक समवेदनशील भी बना सकती है और अधिक कठोर भी। इन्हें यदि स्वस्थ विकास के उपयुक्त वातावरण न मिले तो सद्यप्राप्त संस्कारों की कारा में घुट-घुट कर इनका अस्वस्थ हो उठना निश्चित है। हमारा देश यदि स्वतन्त्र होता तो उन्हें सनाथ बनाने का प्रश्न ही न उठता क्योंकि अपने इतने विराट देश के रहते कोई बालक अनाथ नहीं कहा जा सकता, परन्तु आज की परिस्थिति में, जन्म देने वाले माता-पिता के अभाव में बालक का उत्तरदायित्व किसी पर नहीं रहता। वह शेष समाज से दूर रहकर किन्तु प्रत्येक द्वार से भीख लेकर जीता हुआ जहाँ अपने लिए हाथ भर छाया पाता है उस स्थान को अनाथालय ही कहते हैं। इन ख़ैराती घरों का वातावरण प्रायः ऐसा नहीं रहता जिसमें अबोध बालक आत्मसम्मान सीख सकें और बिना उसके नागरिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। बंगाल की इस निरपराध सन्तति को अपने समुचित विकास के लिए सुन्दर और संस्कृत वातावरण किस प्रकार मिल सकेगा यह प्रश्न भी उत्तर चाहता है।

अनाथ बालकों के प्रश्न से भी उग्रतर प्रश्न बालिकाओं और युवतियों का है। भूख की दारुण ज्वाला ने न जाने कितने जीवनों का भविष्य राख कर दिया है। माताओं ने कभी अपने और कभी अपनी बालिकाओं के जीवन की रक्षा के लिए उन्हें लज्जाजनक व्यवसाय के व्यवसायियों को सौंप दिया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ एक परिवार की पाँच-पाँच बालिकाएँ केवल इसलिए बेच दी गईं कि उनके परिवार को एक समय भोजन मिल सके। अनुमानतः चौंतीस हज़ार से कुछ अधिक ही स्त्रियाँ ऐसी दयनीय स्थिति में पड़ी हैं। हमारे समाज की नैतिकता एक ओर इतनी क्षीण है कि वह दूसरों की विपन्नावस्था में भी अपनी पाशविकता को बन्धन में नहीं रख पाता और दूसरी ओर उसका धर्माडम्बर इतना प्रबल है कि निर्दोष व्यक्तियों की विवशता जनित भूलों को भी क्षमा करने में असमर्थ है। जीवन का लज्जाजनक

क्रयविक्रय बंगाल में पहले भी उपस्थित था। फिर आज तो उन हृदयहीन व्यापारियों को उपकारक की भूमिका भी प्राप्त हो गई है।

इसके अतिरिक्त रोगों की समस्या भी उग्र से उग्रतर होती जा रही है। भूख से पीड़ित व्यक्ति में व्याधि से संघर्ष करने की शक्ति नहीं रहती। युद्ध के कारण औषधियों का दुष्काल भी विस्तार पा रहा है अतः बंगाल में बहुत बड़ी संख्या उन व्यक्तियों की है जिन्हें भोजन के अभाव से व्याधि ग्रस्त तथा औषधि के अभाव से मरना होगा। उनके लिए औषधि तथा वस्त्रों का प्रबन्ध भी आज की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति का प्रयत्न अन्य प्रान्त कर सकते हैं।

बंगाल की इन विविधरूपी आपत्तियों के निराकरण के जो वास्तविक उपचार हैं वे यदि हमारे लिए अप्राप्य न होते तो यह स्वर्णभूमि अब तक अपनी अग्नि-परीक्षा पार कर चुकी होती।

बंगाल का दुःख जिस महापुरुष को सबसे अधिक स्पर्श कर सकता है और जो सम्पूर्ण देश की शक्तियों को बंगाल के प्रश्न पर केन्द्रित करने में समर्थ है. वह इस कार्य के लिए स्वतन्त्र नहीं। देश पर जिनका प्रभाव व्यापक है उन नेताओं की मुक्ति दुर्भिक्षमुक्ति में सहायक होगी।

बंगाल के विभिन्न राजनीतिक दलों का परस्पर विरोध भी अवस्था में सुधार नहीं होने देता है, क्योंकि एक पक्ष दूसरे के दोष गिनाने से ही अवकाश नहीं पाता। दुर्भिक्ष यदि दूसरों की भूल का विज्ञापन है तो उनके निकट दुर्भिक्ष के प्रश्न से अधिक महत्व का प्रश्न दूसरों की भूल की चर्चा है। ऐसी स्थिति में संगठित उद्योग का दुर्लभ हो उठना ही स्वाभाविक है। सब दलों के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल की उपस्थिति ही इस विषम स्थिति में परिवर्तन ला सकती है।

जब तक दूसरे परिवर्तन न हो सकें तब तक हम क्या करें यह प्रश्न भी स्वाभाविक है। सामाजिक दृष्टि से ऐसी आपत्ति के दो ही परिणाम सब के लिए हितकर हो सकते हैं। एक तो सामूहिक संगठन जो आपत्ति ग्रस्तों तथा उनके सहायकों को एक सूत्र में बाँध कर आपत्ति से संघर्ष करने की शक्ति देता है और दूसरी वह नैतिक चेतना जो सहानुभूतिजनित भ्रातृभाव में परिणित होकर मनुष्य को मनुष्य के निकट ला सकती है। एक का प्रभाव बहिर्मुखी होकर भी परिणामतः अन्तर्मुखी है और दूसरे की प्रेरणा अन्तर्मुखी होकर भी फलतः बहिर्मुखी है। कुछ व्यक्ति यदि सामूहिक संगठन तथा बन्धु-भाव को दृढ़ करने के कार्य में लग सकें तो इस प्रकार की आपत्तियों की पुनरावृत्ति रोकी जा सकती है। जनता में बन्धु-भावना उनके सुख-दुखों को व्यापकता देती है और जनमत का संगठन उनकी माँग को शक्ति देता है।

बंगाल का पुनर्निमाण प्रत्येक व्यक्ति का सहयोग चाहता है। परन्तु कलाकार तथा लेखकों के निकट तो यह उनके आत्मनिर्माण की परीक्षा है। राजनीतिक दलों के वादविवाद के कोलाहल से दूर होने के कारण वे इस विशाल मानवता की आर्त्त वाणी को स्पष्ट सुन सकते हैं। संकीर्ण स्वार्थों से शून्य होने के कारण वे इसकी व्यथा को सम्पूर्णता में अनुभव कर सकते हैं। क्रौञ्च पक्षी की व्यथा ने हमारे ऋषि कवि को प्रथम छन्द देकर हमें आदि काव्य दिया है। एक मनुष्य की पीड़ा ने सिद्धार्थ को प्रबुद्ध बनने का मार्ग दिखाया है।

आज के विराट मानव की व्यथा का समुद्र आज के लेखक को, जीवन का कोई महान तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा। किन्तु ऐसी कल्पना करना भी सच्चे कलाकार का अपमान करना है। यदि वह आधुनिक युगीन हिंसा के ज्वार में स्थिर रह सके। आज की भेद-बुद्धि का बादल उसकी चेतना को न ढक सके, और वर्तमान सामाजिक विक्रांत तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता की धूल उसकी दृष्टि को धुँधला न कर सके तो वह कल्याण पथ का पंथी न भ्रान्त होगा न विचलित।

जो कलाकार के आत्मनिर्माण की परीक्षा है वह आज के विद्यार्थी के लिए आत्मनिर्माण का साधन है। हमारे शास्त्र में विद्यार्थी का कोई वर्ण नहीं, कोई सम्प्रदाय नहीं क्योंकि हमारे विचारक उसे सार्व-भौम ज्ञान का जिज्ञासु मानते थे। उससे आशा की जाती थी कि वह स्वार्जित ज्ञान से जीवन के नूतन निर्माण में भाग लेने से पहले भेद-बुद्धि से अपनी शक्तियों को संकीर्ण न बना डालेगा। आज के विद्या-र्थियों के लिए भी वही भावना श्रेयस्कर कही जायगी जो उसे जीवन को अखंड रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा दे सके। यदि वह अपने आपको सम्प्रदाय, मत, प्रान्त या दल विशेष की कठिन भित्तियों से घेर लेगा तो भविष्य में इन्हीं संकीर्ण भावनाओं का पिष्टपेषण करता चलेगा। बंगाल का प्रश्न समस्त भारत का प्रश्न होने के कारण उस से पूर्ण सहयोग पाने का अधिकारी है।

आज के पुण्यदिवस के सम्बन्ध में भी दो शब्द उचित हैं। बंगाल दिवस का यह लक्ष्य नहीं है कि हम एक दिन उत्सव मना कर दूसरे दिन उसे अतीत की घटना मात्र बना डालें। दुर्भिक्ष के आरम्भ में तो हमारी सहायता का रूप बंगाल की जन-सेवा-समितियों को अपना कार्य-क्रम चलाते रहने के लिए आर्थिक सहायता देना था। आज दुर्भिक्ष ने करवट बदली है। उसके ध्वंस में हमें निर्माण के उपकरण खोज निकालने हैं। पहले केवल आवेश से काम चल सकता था, परन्तु

आज शान्त भाव से विचार विनिमय के उपरान्त ही हम इस पुनर्निर्माण में सहायक हो सकेंगे। अतः बंगाल दिवस हमारे इस ओर के प्रयत्न का पहला दिन है क्रान्ति में समाप्त होने वाला उत्सव मात्र नहीं। बंगाल की निराश्रय नारियों तथा अनाथ बच्चों की समस्या महिला विद्यापीठ के कर्तव्य की सीमा में है। उनकी समस्याओं पर विचार करने, उनके पक्ष में जनमत संगठित करने, उनकी स्थिति से परिचित होने के लिए समय-समय पर अपने सदस्य भेजने तथा आवश्यकता होने पर उनके आश्रय तथा शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करने के लिए जो सहायक समिति बनी है वह सब के सहयोग का पाथेय लेकर ही अपने गन्तव्य तक पहुँच सकेगी।

प्रस्तुत चित्रकाव्य संकलन बंगाल को हमारी श्रद्धाञ्जलि मात्र है। उसमें जिन साहित्यिक बन्धुओं ने अपना फूल चन्दन मिला दिया वे सभी बंगभूमि की व्यथा से पूत हैं। बंगाल पर अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित कवितायें संकलित करने के लक्ष्य के कारण हम उन्हें प्रस्तुत संग्रह में स्थान न दे सके।

यह सत्य है कि अनन्त सौन्दर्यमयी अजस्र शक्तिमती असीम जीवनमयी यह धरती हमारी सहायता की भिक्षुक नहीं। जिसकी तन्मयता के ताल पर आज भी मानो समुद्र झूमता और जाह्नवी गाती है उस चैतन्य ने इसी से गति सीखी है। जिसकी स्वर लहरी क्षितिज से क्षितिज तक छू कर विश्व की पुलक का कारण बन सकी उस कवीन्द्र ने भी इसी के निकट स्वर-साधना की है जिस शरद की कथा ने आधुनिक युग के कोलाहल में पैठकर आज के व्यापारी मानव के हाथ की तुला थाम ली उसकी कहानी का प्रत्येक अध्याय इसी के वात्सल्य का इतिहास है। जिसका व्यंग हमारे उपहास से भरे जीवन के कोने-कोने में आज भी मुस्कराता रहता है वह बंकिम भी इसी की भृकुटिभंगिमा की छाया में पला था। जिसके गम्भीर घोष ने पश्चिम को विस्मित कर दिया उस विवेकानन्द की दार्शनिकता भी इसी की उज्ज्वल दृष्टि का वरदान थी। जिस बंगभूमि के पुत्र भारतीय ज्ञान विज्ञान यथा संस्कृति के प्रहरी रहे वह तो हमारे आदर्शों की सजीव प्रतिमा है। उसे जिस व्यवस्था के कारण इतना असहाय होना पड़ा है उसके प्रति हमारा जितना सक्रिय विरोध हो थोड़ा है। बंग की जो सन्तति इस दुर्भिक्ष की बलि हो गयी उसकी स्मृति हमारे भविष्य का आलोक रहेगी। उसकी जो सन्तान आज विपन्न है उसके प्रति हमारा स्नेह स्थायी और सहयोग निश्चित है।

—महादेवी

सरस्वती प्रेस, जार्जटाउन इलाहाबाद